अध्याय 9

राष्ट्रीय आंदोलन के अन्य पहलू (Other Strands of the National Movement)

1905 से क्रांतिकारी आंदोलन

'क्रांतिकारी आतंकवाद' देश की स्वतंत्रता के लिए चलाया गया सबसे आक्रामक और जुझारू आंदोलन था, जिसे शिक्षित एवं जोशीले नौजवानों ने चलाया। उनकी संरचनात्मक ऊर्जा संभवत: समकालिक राजनैतिक व्यवस्था के लिए उपयुक्त नहीं थी। उनके असंतोष का कारण केवल ब्रिटिश शासन, उनका शोषण एवं अन्याय ही नहीं था, बल्कि देश के राजनैतिक नेतृत्व ने भी उन्हें निराश ही किया। गरमपंथी भी उन्हें संतुष्ट करने में असफल रहे। (क्रांतिकारी आतंकवाद की उत्पत्ति के लिए उग्रवाद का विकास अध्याय देखिए)।

ब्रिटिश भारत के पूर्वी एवं पश्चिमी भाग—बंगाल एवं महाराष्ट्र, क्रांतिकारी आतंकवाद आंदोलन के दो प्रारंभिक ठिकाने थे। वैचारिक, सामाजिक एवं राजनैतिक दृष्टि से ये दो क्षेत्र अधिक सक्रिय थे। इसके अतिरिक्त क्रांतिकारी आतंकवादी आंदोलन देश के अन्य क्षेत्रों एवं देश के बाहर भी फैला। अनेक गुप्त संगठनों का प्रोपेगंडा, प्रशिक्षण एवं हथियार खरीदने के लिए स्वदेशी डकैती का सहारा लिया गया। उन्होंने चुन-चुन कर भ्रष्ट एवं शोषणकारी अधिकारियों तथा देश के गद्दारों को अपना निशाना बनाया। उनका तत्कालिक लक्ष्य तो अंग्रेजों के मन-मस्तिष्क में भय उत्पन्न करना था परन्तु वास्तविक उद्देश्य देश को आजाद कराना था।

पूर्वी भारत में क्रांतिकारी आंदोलन

1902 में कलकत्ता में स्थापित अनुशीलन समिति उन प्रारंभिक क्रांतिकारी संगठनों में से एक थी जिसकी स्थापना परमोथ मित्र, जतिंद्रनाथ बनर्जी एवं बरिन्द्र कुमार घोष ('भवानी मन्दिर' के लेखक) ने की थी। क्रांतिकारी पत्रिकाओं जैसे—'युगांतर' एवं 'संध्या' ने सक्रिय रूप से अंग्रेजी विरोधी विचारों का प्रचार-प्रसार किया। खुदीराम बोस एवं प्रफुल्ल कुमार चाकी ने मुजफ्फरपुर (बिहार) के विवादास्पद मजिस्ट्रेट किंग्सफोर्ड की हत्या का प्रयास किया लेकिन पड़ोसी वकील कैनेडी के परिवार की दो महिलायें मारी गयीं जिसके आरोप में खुदीराम बोस को मौत की सज़ा दी गई, जबकि चाकी ने आत्महत्या कर ली। एक अन्य घटनाक्रम में ढाका अनुशीलन के पुलिन दास ने बारा डकैती (2 जून, 1908) को अंजाम दिया।

पश्चिमी भारत में क्रांतिकारी गतिविधियां

चापेकर बंधु—दामोदर एवं बालकृष्ण ने 22 जून, 1897 को पुणे में किसी यूरोपीय की, पहली राजनैतिक हत्या की। वे पुणे के प्लेग समिति के अध्यक्ष रैंड की हत्या करना चाहते थे, लेकिन गलती से लेफ्टिनेंट आयरस्ट की हत्या हो गई। क्रांतिकारी इस बात से भड़क उठे थे कि प्लेग समिति के सिपाहियों को घर-घर तलाशने का आदेश दिया गया है ताकि प्लेग प्रभावित लोगों को चिह्नित किया जा सके। नासिक में वी.डी. सावरकर ने 'मित्र मेला' नामक संगठन की स्थापना की, जो 1904 में अभिनव भारत में मिल गया। 'अभिनव भारत' के क्रांतिकारियों ने 21 दिसंबर 1909 को नासिक के विवादास्पद जिलाधिकारी जैक्सन की हत्या कर दी। अहमदाबाद बम कांड (नवंबर 1909) एवं सतारा षड्यंत्र (1910) पश्चिमी भारत की क्रांतिकारी गतिविधियों के कुछ उदाहरण हैं।

विदेश में क्रांतिकारी आंदोलन

क्रांतिकारी आंदोलन को कुचलने के लिए भारत सरकार ने अनेक दमनकारी कानून पारित किए जैसे—प्रिवेंशन ऑफ सेडीशियस मीटिंग्स एक्ट (1907), द एक्सप्लोसिव सबस्टैंसेस एक्ट (1908), द प्रेस एक्ट (1910) आदि। इन अधिनियमों के प्रकोप से बचने एवं हथियार जमा करने के इरादे से अनेक क्रांतिकारी देश के बाहर चले गए। लंदन में 1905 में काठियावाड़ (गुजरात) के कृष्ण वर्मा ने इंडिया होम रूल सोसाइटी अथवा 'इंडिया हाउस' की स्थापना की। अपने क्रांतिकारी विचारों के प्रचार-प्रसार के लिए उन्होंने एक मासिक पत्रिका 'द सोशियोलोजिस्ट' का प्रकाशन प्रारंभ किया। कृष्ण वर्मा ने विदेश जा रहे योग्य भारतीयों के लिए 'फेलोशिप' की स्थापना भी की। 'इंडिया हाउस' से संबंधित लोगों में वी.डी. सावरकर, मदन लाल ढींगरा, लाला हरदयाल आदि के नाम प्रमुख हैं। इन्हीं में से एक मदन लाल ढींगरा ने जुलाई,1909 में इंडिया ऑफिस के अधिकारी कर्नल विलियम कर्ज़न वाइली की हत्या कर दी। 'नासिक षड्यंत्र मुकदमे' के मामले में सावरकर का भारत में प्रत्यापर्ण किया गया और उम्र कैद की सज़ा सुनाई गई। श्यामजी पेरिस में बस गए। पारसी क्रांतिकारी मैडम भीकाजी कामा ने पेरिस और जेनेवा में से आंदोलन चलाया। उन्होंने फ्रांसीसी समाजशास्त्री जीन लौंगवेह से संपर्क स्थापित किया और 'वंदेमातरम' नामक क्रांतिकारी पत्रिका निकाली। वीरेन्द्रनाथ चटोपाध्याय ने तो 1909 के बाद बर्लिन को ही क्रांतिकारी आंदोलन का केंद्र बना लिया। लाला हरदायाल ने रामचन्द्र, सोहन सिंह भाकना एवं बरकत उल्लाह की सहायता से 1913 में सेन फ्रांसिस्को (अमेरिका) में 'गदर पार्टी' की स्थापना की। इन लोगों ने उर्दू और पंजाबी में 'ग़दर' नामक समाचार पत्र भी प्रकाशित किया। लेकिन लाला हरदायल को क्रांतिकारी गतिविधियों के कारण अमेरिका छोड़ने पर बाध्य किया गया, वे जर्मनी चले गए, जहां बर्लिन में उन्होंने 'इंडियन इंडिपेंडेंस कमेटी' की स्थापना की। कमेटी का उद्देश्य विदेश में रह रहे भारतीयों को अपने कर्त्तव्यों के प्रति जागरुक करना, भारत में रह रहे क्रातिकारियों की सहायता करना और हथियारबंद तरीके से अगर संभव हो सके तो आक्रमण करके भी, भारत को स्वतंत्र कराना था।

अमेरिका और यूरोप में चलाए गए क्रांतिकारी आंदोलन की एक विशेषता यह भी थी कि इसका आधार राष्ट्रवाद के साथ-साथ धर्मनिरपेक्ष भी था, जबकि बंगाल एवं महाराष्ट्र के क्रांतिकारी आंदोलन में राष्ट्रवाद के साथ-साथ हिंदू धर्म के सांस्कृतिक चिन्हों का इस्तेमाल भी हुआ, जिससे वहां के मुसलमान उन आंदोलनों में सम्मिलित न हो सके। यूरोप में बसे क्रांतिकारियों का संपर्क आइरिश रिपब्लिकन आर्मी एवं कम्यूनिस्टों से भी हुआ। मैडम कामा ने अगस्त, 1907 में द्वितीय अंतर्राष्ट्रीय स्टूटगार्ट कांग्रेस के अवसर पर स्वतंत्र भारत का झंडा भी फहराया।

प्रथम विश्व युद्ध के बाद क्रांतिकारी आंदोलन

प्रथम विश्व युद्ध के बाद के क्रांतिकारी मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित और रूस की सफल बोल्शेविक क्रांति से प्रेरित थे। उन्होंने मज़दूरों के भीतर क्रांति की भावना को देखा था। क्रांतिकारियों ने गांधी के

नेतृत्व में चलाए गए असहयोग आंदोलन में बढ़-चढ़ कर भाग लिया। जोगेश चन्द्र चटर्जी, सूर्यसेन, जतिन दास, चन्द्रशेखर आज़ाद, भगत सिंह, सुखदेव, शिव वर्मा, भगवती चरण वोहरा एवं जैदेव कपूर उन क्रांतिकारियों में से थे जो असहयोग आंदोलन में सक्रिय थे, लेकिन असहयोग आंदोलन के अचानक वापस लिए जाने से क्रांतिकरियों में निराशा छा गई। गांधी के सत्याग्रह एवं अहिंसा के सिद्धांत उन्हें व्यर्थ लगने लगे और स्वराज पार्टी की संसदीय राजनीति ने भी उन्हें निराश ही किया।

क्रांतिकारियों ने अब अपना रास्ता स्वयं चुनने का निर्णय किया। उत्तर भारत के कुछ क्रांतिकारियों ने मिलकर अक्तूबर 1924 में हिंदुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन (अथवा आर्मी) की स्थापना की, जिसका उद्देश्य था अंग्रेजी राज को उखाड़ फेंकना और संघीय गणतंत्र एवं व्यस्क मताधिकार के आधार पर 'संयुक्त राज्य भारत' की स्थापना करना। इस संगठन से जुड़े लोगों में रामप्रसाद बिस्मिल ('सरफरोशी की तमन्ना' के लेखक), जोगेश चटर्जी, सचिन्द्रनाथ सान्याल ('बंदी जीवन' के लेखक) आदि प्रमुख हैं। हिंदुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन का एक प्रमुख कारनामा 9 अगस्त, 1925 को दिखा, जब इसके क्रांतिकारियों ने काकोरी (लखनऊ के निकट) रेल डकैती को अंजाम दिया। बड़ी संख्या में क्रांतिकारियों और उनके समर्थकों की धर-पकड़ शुरू हुई। राम प्रसाद बिस्मिल, रौशन सिंह, अशफ़ाक-उल्लाह खान और राजेन्द्र लाहिरी को मौत की सज़ा हुई, चार अन्य को 'सज़ाए काला पानी' (अंडमान भेजना) और सत्रह क्रांतिकारियों को लंबे कारावास की सज़ा मिली।

हिंदुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन का पुनर्गठन 9-10 सितंबर 1928 को तब हुआ, जब दिल्ली के फिरोज़शाह कोटला में चन्द्रशेखर आज़ाद के नेतृत्व में क्रांतिकारियों ने बैठक की और इसे एक नया नाम 'हिंदुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन' दिया, जिसके साथ ही क्रांतिकारियों के लक्ष्य में एक नया परिवर्तन आया। क्रांति का अब अर्थ केवल बम एवं बंदूक से अंग्रेजों को निकाल बाहर करना नहीं रह गया था बल्कि समाज में एक मूलभूत परिवर्तन लाना था, पूंजीवाद को समाप्त करना था और मज़दूरों का शासन स्थापित करना था। भगत सिंह, सुखदेव, भगवती चरण वोहरा, जैदेव कपूर, शिव वर्मा एवं विजय कुमार इसी सपने के साथ फिरोज़शाह कोटला में इकठ्ठा हुए थे।

एच.एस.आर.ए. के सदस्य जनता द्वारा एक क्रांति चाहते थे। जनता का ध्यान आकर्षित करने और विवादास्पद विधेयक—'पब्लिक सेफ्टी बिल' एवं 'ट्रेड डिस्प्यूट बिल' के प्रति विरोध जताने के लिए भगत सिंह एवं बटुकेश्वर दत्त ने 8 अप्रैल 1929 को केंद्रीय विधान परिषद में बम फेंका। उनका उद्देश्य किसी की जान लेना नहीं बल्कि 'बहरों को आवाज़ सुनाना' था। उन्हें भागने का पूरा अवसर था, लेकिन वे नहीं भागे, उन्हें विश्वास था कि वह अपराधी नहीं हैं और उन्होंने कोई गलत काम नहीं किया है, इसलिए हिम्मत के साथ आत्म-समर्पण कर दिया। उनका एक उद्देश्य यह भी था कि जब अदालत में मुकदमा चले तो उनके भाषणों की गूंज पूरा देश सुने और ऐसा हुआ भी। क्रांतिकारियों के देश-प्रेम, क्रांतिकारी एवं धर्मनिरपेक्ष नारों ने देशभर में जोश और उत्साह की एक नयी लहर उत्पन्न कर दी। 'इंकलाब जिंदाबाद' (हसरत मोहानी द्वारा दिया गया नारा), सरफरोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है.....(राम प्रसाद बिस्मिल), 'मेरा रंग दे बसंती चोला', 'पूंजीवाद मुर्दाबाद', 'मज़दूर एकता ज़िंदाबाद' नारों ने देश के नौजवानों में एक नया उत्साह भरा। क्रांतिकारियों के संदेश, उनकी ख़बरें, उनके चित्र समाचार-पत्रों की सुर्खियां बनने लगीं। भगत सिंह की चर्चा कांग्रेसी नेताओं से अधिक होने लगी, जब 23 मार्च 1931 को उन्हें राजगुरु एवं सुखदेव के साथ लाहौर जेल में फांसी दी गई तो सारे देश ने खून के आंसू बहाये। हर वर्ष 23 मार्च शहीद दिवस के रूप में मनाया जाता है। एक अन्य क्रांतिकारी जिसने नौजवान देशप्रेमियों का सर गर्व से ऊंचा किया, वे थे जतिन दास, जिन्होंने 64 दिन की लंबी भूख-हड़ताल के बाद अपने प्राण त्याग दिये। वे एवं अन्य क्रांतिकारी जेल में खराब हालत के विरोध में भूख-हड़ताल कर रहे थे। उनकी मांग थी कि उन्हें अन्य राजनैतिक कैदियों (न कि अपराधिक कैदियों की तरह) की तरह सुविधाएं मिले। उधर चन्द्रशेखर आजाद इलाहाबाद में 27 फरवरी 1931 को पुलिस मुठभेड़ में शहीद हुए।

क्रांतिकारियों की एक अन्य जोखिम भरी योजना थी चिट्टगांव (चट्टाग्राम) के शस्त्रागार को लूटना (8 अप्रैल 1930)। सूर्यसेन, अम्बिका चक्रवर्ती, अनंत सिंह, लोकनाथ बाल, गणेश घोष, आनंद गुप्ता, तेगरा बाल, कल्पना दत्त एवं प्रीतिलता वाडेकर ने अंग्रेजों के चार ठिकानों पर निशाना बनाने की योजना बनाई। उन लोगों ने बंदूकें (लेविस बंदूक) तो लूट ली लेकिन गोलियां ले जाना भूल गए। सरकार की ओर से जवाबी कार्यवाही में अनेक क्रांतिकारी शहीद हुए, जबकि कुछ बच निकलने में सफल हुए। कुछ महीने की मुकदमेबाजी के बाद 12 जनवरी, 1934 को सूर्य सेन को फांसी दे दी गई।

भगत सिंह, चन्द्रशेखर आज़ाद एवं सूर्यसेन की शहादत के बाद क्रांतिकारी आतकंवाद लगभग ठंडा पड़ गया। अनेक क्रांतिकारी मार्क्सवादी, समाजवादी या गांधीवादी विचारधारा से जुड़ने लगे। यद्यपि क्रांतिकारी आंदोलन जनता को बड़ी संख्या में सम्मिलित करने में विफल रहा, लेकिन उनके बलिदान, हिम्मत और देश भक्ति ने सारे देश को प्रेरित एवं गौरवान्वित किया। अधिक महत्व की बात यह रही कि वे करोड़ों भारतीयों के मन-मस्तिष्क से भय निकालने में सफल रहे।

संवैधानिक राजनीति : स्वराजवादी

31 दिसंबर 1922 को दिल्ली में 'कांग्रेस-खिलाफत स्वराजवादी पार्टी' अथवा 'स्वराज पार्टी' का गठन हुआ। असहयोग आंदोलन के वापस लिए जाने के बाद कांग्रेस पार्टी एक बार फिर दो खेमे में बंट गयीं—'परिवर्तनवादी' एवं 'अपरिवर्तनवादी'। परिवर्तनवादियों ने ही स्वराज पार्टी का गठन किया जिसके संस्थापक अध्यक्ष थे—सी.आर. दास और संस्थापक सचिव थे—मोतीलाल नेहरू। वह लोग 1923 में होने वाले चुनावों में भाग लेना चाहते थे ताकि देश के महत्वपूर्ण विषयों पर सदन में प्रश्न उठा सकें। उनका यह इरादा भी था कि अगर उनकी मांगे नहीं मानी गईं तो वे सदन को भीतर से कमज़ोर करेंगे, उनकी कार्यवाईयों में बाधा डालेंगे और किसी भी बिल को पारित नहीं होने देंगे।

दूसरी और अपरिवर्तनवादी, जिसका नेतृत्व जेल से गांधी कर रहे थे, चुनाव का वहिष्कार करना चाहते थे क्योंकि यह विवादस्पद 'द्वैध शासन' (डायारकी) (देखें 1919 का भारत सरकार अधिनियम) पर आधारित था। गांधी का यह भी मानना था कि लोगों के बीच जाकर 'सृजनात्मक कार्य' करना अधिक महत्वपूर्ण है बजाय विधान परिषदों में जाने के। वह चाहते थे कि लोगों का उत्साह बना रहे और नेताओं को संभावित राजनैतिक भ्रष्टाचार से दूर रखा जाए।

जैसा कि योजना थी स्वराज्य दल ने 1923 के चुनाव में भाग लिया और केंद्रीय प्रांत में उन्हें बहुमत भी मिला। बंगाल एवं बंबई में भी उन्हें अच्छी सीटें मिली। बंगाल में तो मुसलमानों का समर्थन प्राप्त करने के लिए स्वराज पार्टी ने खिलाफत आंदोलन का साथ दिया और बंगाल विभाजन का समर्थन भी किया। इस बार कांग्रेस भी स्वराज दल के प्रति नरम दिखाई दी और अपने कार्यकर्ताओं को चुनाव प्रक्रिया में भाग लेने की अनुमति दे दी।

केंद्रीय विधान परिषद में स्वराज दल के नेताओं एवं अन्य दलों के नेताओं, जैसे—मुहम्मद अली जिन्ना के बीच सम्पर्क बढ़े और इन दोनों ने 'ली कमीशन' (जो सरकारी सेवा में अंग्रेजों का वर्चस्व बनाए रखना चाहती थी) का सम्मिलित रूप से विरोध किया। अंततः उनके दबाव के कारण सरकार को झुकना पड़ा। 1924 के प्रारंभ में स्वराज दल की पहल पर केंद्रीय विधान परिषद में एक प्रस्ताव पारित हुआ, जिसमें गोलमेज सम्मेलन बुलाने की मांग की गई ताकि उत्तरदायी सरकार की ओर कदम बढ़ाया जा सके। स्वराज दल ने मुडीमन कमेटी के सामने भी अपना विरोध दर्ज कराया जो 'द्वैध शासन' (डायरकी) की जांच के लिए गठित की गई थी। 1925 में सी.आर. दास की मृत्यु के बाद स्वराज दल ने अपना महत्व खो दिया और इसके सदस्य पुनः कांग्रेस में सम्मिलित हो गए।

जवाहरलाल नेहरू के विचार

जवाहरलाल नेहरू न केवल एक महान नेता थे, जिन्होंने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध देश की स्वतंत्रता

के लिए संघर्ष किया बल्कि आधुनिक भारत के निर्माता भी थे। उनका जन्म 14 नवंबर, 1889 को एक कश्मीरी पंडित परिवार में हुआ था। नेहरू विद्वान थे और अंग्रेजी साहित्य, कविता, यूनानी नाटक, इतिहास, विज्ञान एवं राजनीति शास्त्र जैसे विषयों में अच्छी जानकारी रखते थे। उनकी पुस्तकों—'ऑटोबायोग्राफ़ी', 'ग्लिंपसेज ऑफ वर्ल्ड हिस्ट्री', 'द यूनिटी ऑफ इंडिया', 'द डिस्कवरी ऑफ इंडिया' और 'ए बंच ऑफ ओल्ड लैटर्स' से उनकी रूचि एवं ज्ञान के स्तर का अनुमान आसानी से लगाया जा सकता है। वह अनेक विचारधाराओं से प्रभावित थे, गांधी से भी, लेकिन उन्होंने आंख बंद कर किसी का अनुसरण नहीं किया। अनेक मुद्दों पर वे गांधी से असहमत दिखते फिर भी एक लक्ष्य के लिये वह गांधी के साथ सहयोग करते रहे। नेहरू मानववाद, उदारवाद, समाजवाद आदि विचारधाराओं से भी प्रभावित एवं प्रेरित थे, जो उनके राजनैतिक चिंतन एवं व्यवहारिक राजनीति में भी देखी जा सकती है।

नेहरू केवल राजनैतिक स्वतंत्रता का सपना नहीं देखते, वह लोगों के उत्थान एवं चहुंमुखी विकास के लिए सामाजिक, आर्थिक ढांचे में परिवर्तन को आवश्यक मानते थे। वह गर्व से स्वयं को समाजवादी कहते थे लेकिन सामाजवाद के कठोर सिद्धातों को अपनाने के लिए तैयार नहीं थे। वह समाजवाद के उन सिद्धातों को अपनाना चाहते थे जिससे देश की गरीबी, आर्थिक एवं सामाजिक असमानताएं दूर हो सकें। उन्होंने समाजवाद का एक देसी मॉडल तैयार किया जो भारतीय वातावरण के उपयुक्त हो। उनका समाजवाद लोकतंत्र से जुड़ा था। वह समाजवाद को मानवीय रूप के साथ अपनाने को तैयार थे, खून-ख़राबे से नहीं, जैसा कि रूस एवं अन्य पूर्वी यूरोपीय देश में हुआ।

देश की एकता एवं अखंडता के लिए नेहरू धर्मनिरपेक्षता को आवश्यक मानते थे। धर्मनिरपेक्षता उनके लिए एक विश्वास भी था और लक्ष्य भी। नेहरू धर्म के आडंबरों के विरोधी थे, सत्य धर्म के नहीं। वह धर्म के सकारात्मक पहलू—सत्य, प्रेम, मानववाद, नैतिकता एवं आध्यात्मिकता के प्रशंसक थे। नेहरू का धर्मनिरपेक्ष एक वैज्ञानिक मस्तिष्क एवं राजनैतिक व्यवहारवादी की सोच का परिणाम था, जो भारतीय समाज में प्रासंगिक था, जहां अनेक धर्मों, जातियों, नस्लों, भाषाई समूहों का सदियों से निवास है। उनके विचार एवं व्यवहार तथा सिद्धांत एवं कर्म में विरोधाभास नहीं था, जैसा कि उन्हीं के अनेक साथियों में, कांग्रेस के भीतर था। उनका यह गुण उन्हें गांधी के निकट लाता है। विभाजन (1947) से पहले और विभाजन के बाद अनेक अवसरों पर नेहरू ने एक सच्चे धर्मनिरपेक्ष नेता होने का परिचय दिया। विभाजन के समय लाखों शरणार्थी (हिंदू एवं सिख) पश्चिमी पंजाब से भारत आए थे और भारत के मुसलमान सबसे कठिन परीक्षा के दौर से गुजर रहे थे। उनमें असुरक्षा की भावना घर पर चुकी थी। ऐसे में नेहरू ने ही देश को संभाला, मुसलमानों में सुरक्षा की भावना पैदा की और उन्हें विश्वास दिलाया कि यह देश उनका भी उतना ही है, जितना किसी और का। विभाजन जैसे संकट के समय में नेहरू का यह योगदान इतिहास कभी नहीं भुला सकता।

देश के लोकतंत्र को मज़बूत करने और शक्ति के विकेन्द्रीयकरण में नेहरू की भूमिका सराहनीय रही। नेहरू ने संसदीय लोकतंत्र का समर्थन किया क्योंकि उन्हें विश्वास था इसी प्रणाली से वह अपने 'सपनों का समाज' निर्मित कर सकते हैं, जिसमें व्यक्तिगत स्वतंत्रता, सामाजिक एवं आर्थिक समानता तथा सबके लिए न्याय संभव हो सके। वह दूरदर्शी थे और आधुनिक भारत की सृजनात्मक शक्ति की अभिव्यक्ति कर रहे थे। उनका व्यक्तित्व बहुआयामी था। वह कवि की भांति संवेदनशील थे, वैज्ञानिक की भांति तार्किक, क्रांतिकारी की तरह जोशीले और कलाकारों की तरह चुंबकीय थे। उनकी दूरदर्शिता ने विज्ञान को मानवता से, विकास को न्याय से, धर्मनिरपेक्ष को धार्मिक स्वतंत्रता से, आधुनिकता को परंपरा से, परिवर्तन को स्थिरता से, राजनीति को नैतिकता से और स्वतंत्रता को समानता से जोड़ कर देखा।

नेहरू आधुनिक भारत के निर्माता भी थे। उनके राष्ट्रनिर्माण के मॉडल का देश पर गहरा प्रभाव पड़ा। वह सोवियत संघ के योजनाबद्ध आर्थिक विकास से प्रेरित थे और भारत के आर्थिक एवं सामाजिक विकास के लिए योजना को अनिवार्य मानते थे। ये उन्हीं के प्रयास का परिणाम था कि आज भारत की अर्थव्यवस्था एवं सामाजिक कल्याण का हर पहलू योजना से जुड़ा हुआ है। स्वतंत्रता से काफी पहले ही

उन्होंने योजना की तस्वीर अपने मस्तिष्क में बना ली थी। 1938 में कांग्रेस द्वारा गठित 'राष्ट्रीय योजना समिति' की अध्यक्षता भी की। वह किसी निश्चित विचारधारा के समर्थन में नहीं थे और हमेशा इस बात के लिए तैयार रहते कि अगर एक विचारधारा असफल हो जाए तो दूसरी विचारधारा को अपनाने में संकोच नहीं करना चाहिए। वह व्यवहारवादी थे और समझते थे कि मिश्रित अर्थव्यवस्था भारत के लिए अधिक उपयुक्त है, जिसमें सार्वजनिक क्षेत्र एवं निजी कंपनियों, दोनों का ही विकास में महत्वपूर्ण योगदान हो। अर्थव्यवस्था के अधिक महत्वपूर्ण क्षेत्र सार्वजनिक कंपनियों के हाथ में और अन्य क्षेत्रों में निजी कंपनियों की भागीदारी हो सकती है, लेकिन निजी क्षेत्रों की दिशा और दशा राज्य निर्धारित करेगा ताकि वह राष्ट्रीय योजना के लक्ष्यों की और बढ़ सकें।

हाल के वर्षों में नेहरू की योजना नीति के आलोचक भी कम नहीं रहे हैं। योजनाबद्ध नीति के बावजूद देश की गरीबी, अशिक्षा एवं बेरोजगारी की समस्या को दूर नहीं किया जा सका। अमीर और अधिक अमीर होते गए जबकि करोड़ों हिंदुस्तानियों के लिए रोटी, कपड़ा और मकान आज भी सपने जैसा है। शिक्षा और स्वस्थ तो वह सोचते भी नहीं हैं। अमीरी और गरीबी के बीच की खाई बढ़ती जा रही है। लेकिन आलोचकों को यह ध्यान रखना चाहिए कि नेहरू की योजना में दोष नहीं था बल्कि उनके क्रियान्वयन में ईमानदारी नहीं बरती गई, जिसके कारण असंतुलित विकास हुआ और विकास का लाभ सभी लोगों तक नहीं पहुंच पाया।

नेहरू राष्ट्रवादी भी थे, लेकिन उनका राष्ट्रवाद देश-प्रेम और देश के प्रति समर्पण की शिक्षा देता, अन्य देश से घृणा नहीं, जैसेकि यूरोप में हुआ। उनका राष्ट्रवाद मानवतावाद पर आधारित था, जिसमें सभी देशों के राजनैतिक अधिकार तथा संप्रभुत्ता की बात कही गई। वह इसलिए साम्राज्यावद एवं उपनिवेशवाद के विरोधी थे और केवल भारत ही नहीं, एशिया और अफ्रीका के अधिकांश देशों की गुलामी को समाप्त किये जाने के समर्थक थे। वह गुटनिरपेक्ष आंदोलन के अग्रणी नेता थे, जिसमें उनका साथ दिया था मिस्र के कर्नल नासिर और युगोस्लाविया के मार्शल टीटो ने। उनका पंचशील का सिद्धांत पड़ोसियों से अच्छे संबंध बनाये रखने पर बल देता था और द्विपक्षीय मामले आपस में ही निपटाने की वकालत करता था। इससे अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर उनकी छवि और भी अच्छी हुई। हालांकि भारत-चीन युद्ध (1962) ने उनके पंचशील सिद्धांत पर प्रश्न चिह्न लगा दिया, फिर आज तक भारतीय विदेश नीति का आधार नेहरू की ही सोच पर टिका है।

वामपंथी (समाजवादी एवं साम्यवादी)

बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक में भारत में शक्तिशाली वाम आंदोलन प्रारंभ हुआ, जिसका उद्देश्य न केवल देश को राजनैतिक स्वतंत्रता प्रदान करना था बल्कि सामाजिक-आर्थिक दशा भी बदलना था। वामपंथियों ने मजदूरों, किसानों, भूमिहीन किसानों और अन्य पिछड़े वर्गों के मुद्दों को उठाया। इस आंदोलन ने शिक्षित नौजवानों को आकर्षित किया, जिनमें जवाहरलाल नेहरू, सुभाष चन्द्र बोस, एम.एन. रॉय, भगत सिंह और और मुज़फ़्फ़र अहमद सम्मिलित हैं। भारतीय राजनीति में वामपंथियों के दो रूप दिखे— 'समाजवादी' एवं 'साम्यवादी'।

समाजवादी

रूस की बोल्शेविक क्रांति (अक्तूबर 1917) का प्रभाव भारतीय शिक्षित वर्ग विशेषकर शिक्षित नौजवानों पर गहरा पड़ा। उनमें से अनेकों का गांधीवादी सत्याग्रह और स्वराज्य दल की संवैधानिक राजनीति से मोह भंग हो गया था। ऐसे नवयुवक समाजवादी विचारधारा की और आकर्षित हुए और इस प्रकार अनेक समाजवादी एवं साम्यवादी संगठनों का गठन हुआ। प्रारंभ में इन लोगों ने मार्क्स और लेनिन की विचारधारा का समाचारों एवं पत्रिकाओं के द्वारा प्रचार किया। अमृत डांगे ने एक पुस्तिका 'गांधी और लेनिन' लिखी और 'द सोशलिस्ट' (साप्ताहिक) नामक समाचार पत्र का प्रकाशन प्रारंभ किया। मुज़फ़्फ़र

अहमद ने बंगाल से 'नवयुग' और काजी मजरूल इस्लाम की सहायता से 'बंगाल' का प्रकाशन प्रारंभ किया। पंजाब से 'इंकलाब' नामक समाचार-पत्र गुलाम हुसैन ने निकाला, तो एम. सिंगारवेलू ने मद्रास से 'लेबर किसान' नामक 'गजट' निकाला।

'समाजवादी' और 'साम्यवादी' में मौलिक अंतर यह था कि समाजवादी सुधार एवं संवैधानिक माध्यम से अर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक परिवर्तन के पक्षधर थे, जबकि साम्यवादी यही परिवर्तन 'क्रांति' के द्वारा लाना चाहते थे, या इन परिवर्तनों के लिए क्रांति को अनिवार्य मानते थे। साम्यवादी पहले तो मज़दूरों की तानाशाही स्थापित करना चाहते थे और फिर एक वर्गहीन समाज या 'साम्यवादी' समाज के लक्ष्य को प्राप्त करना चाहते थे, जो अनेक आलोचकों के अनुसार यूटोपिया (अव्यावहारिक) था।

समाजवाद से प्रभावित होने वाले प्रारंभिक नेताओं में जवाहरलाल नेहरू सबसे प्रमुख हैं। उन्होंने देश के कई क्षेत्रों का भ्रमण किया, किसानों से मिले, विशेषकर 1920-21 में पूर्वी यू.पी. के किसानों से। जेल में (1922-23) उन्होंने रूस एवं अन्य देशों की क्रांति का अध्ययन किया। ब्रूसेल्स में, 1927 में साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद के विरुद्ध हुए अंतर्राष्ट्रीय कांग्रेस में नेहरू ने भाग लिया, जिसका उनकी सोच पर गहरा प्रभाव पड़ा। जब वह भारत लौटे तो एक बदले हुए नेहरू थे। अपनी पुस्तकों—'ऐन ऑटोबायोग्राफी' एवं 'ग्लिमसेज़ ऑफ वर्ल्ड हिस्ट्री' में उन्होंने समाजवादी विचारधारा का ही प्रचार किया। लाहौर कांग्रेस (1929) के अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने घोषणा की ''मैं एक समाजवादी एवं लोकतांत्रिक व्यक्ति हूं और मेरा राजा-महाराजाओं में कोई विश्वास नहीं हैं, न ही ऐसी व्यवस्था में जो आधुनिक राजा-महाराजा (पूंजीपति-उद्योगपति) उत्पन्न करते हैं।'' वह समझते थे कि सभी समस्याओं का समाधान 'समाजवाद' में निहित है। वह देश में मौलिक परिवर्तन लाना चाहते थे, जिसमें राष्ट्र सेवा, समानता और सभी के लिए न्याय को प्राथमिकता मिले न कि निजी सम्पत्ति को। उनकी अतिवादी (radical) सोच के कारण गांधी और उनमें वैचारिक मतभेद उभर आते क्योंकि गांधी वर्गीय संघर्ष के पक्षधर नहीं थे, वे 'ट्रस्टीशिप' के समर्थक थे। दोनों में वैचारिक मतभेद के बावजूद भी दोनों एक-दूसरे के निकट रहे क्योंकि दोनों ही 'राष्ट्रवादी' और 'धर्मनिरपेक्ष' नेता थे। नेहरू को 'राष्ट्रवाद और समाजवाद' के बीच संतुलन बनाये रखना था। कांग्रेस राष्ट्रवाद का प्रतिनिधित्व कर रही थी, जबकि नेहरू, कांग्रेस के कार्यक्रमों में समाजवाद का एजेंडा सम्मिलित करना चाहते थे। लेकिन साम्यवादियों की तरह वह जिसके अंतर्गत पूंजीपति स्वयं को मालिक न समझकर ट्रस्ट्री समझे, समाजवाद के लक्ष्य के लिए किसी अन्य पार्टी के गठन के पक्षधर नहीं थे।

साम्यवादी पार्टी (कम्यूनिस्ट पार्टी)

भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी की स्थापना 1920 में ताशकंद में 'सात हिंदुस्तानियों' ने मिलकर एम.एन. राय के नेतृत्व में की, जो लेनिन के साथ काम कर चुके थे। 1925 में कानपुर के स्थान पर अनेक साम्यवादी ने मिलकर 'कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया' की स्थापना की, जिसमें एस.वी. घाटे पार्टी के महासचिव बनाये गए। कम्युनिस्ट पार्टी ने अपने सदस्यों को कांग्रेस में सम्मिलित होने की सलाह दी और पार्टी को कम्युनिस्ट विचारधारा से प्रभावित करने का निर्देश दिया।

कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में अनेक किसान और मज़दूर पार्टी का गठन प्रांतों में किया गया। जैसे—बंगाल में 'लेबर स्वराज पार्टी' (1925), 'लेबर किसान पार्टी ऑफ हिंदुस्तान' (1923) पंजाब में 'कीर्ति किसान पार्टी आदि'। इन सभी क्षेत्रीय संगठनों को मिलाकर 1928 में 'वर्क्स एंड पीज़ेंट्स पार्टी' का गठन किया गया। इसकी शाखाएं दिल्ली, यू.पी. एवं राजस्थान में खोली गईं। सभी कम्युनिस्ट वर्क्स एंड पीज़ेंट्स पार्टी के सदस्य होते और इसका उद्देश्य कांग्रेस को जनता की पार्टी बनाना था। इसका उद्देश्य था सभी किसानों और मज़दूरों का संगठन बनाकर एक छत के नीचे लाया जाए ताकि स्वतंत्रता के बाद 'समाजवाद' के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सके। जवाहरलाल नेहरू और सुभाष चन्द्र बोस ने व.ए.पी. पा. के प्रयासों का स्वागत किया।

साम्यवादियों एवं समाजवादियों की लोकप्रियता और मज़दूर संगठन की गतिविधियों में सरकार की मुश्किलें और बढ़ गईं, जिसके कारण प्रतिक्रिया स्वरूप सरकार ने साम्यवादी के विरुद्ध दमनकारी नीति अपनाई। कानपुर षड़यंत्र केस (1925-26) और मेरठ षड़यंत्र केस में साम्यवादी नेताओं को गिरफ्तार कर उनके विरूद्ध मुकदमा चलाया गया। मार्च, 1929 में 32 कम्युनिस्ट नेताओं को गिरफ्तार किया गया जिनमें तीन अंग्रेज भी थे- फिलिप स्प्रैट, बैन ब्रैडली और लेस्टर हचिसन उनका मुकदमा मेरठ में चला, जिसमें राष्ट्रवादी नेताओं के वकील भी थे, जैसे जवाहरलाल नेहरू, एम.ए.अंसारी और एम.सी. छागला ने उनकी वकालत की। गांधी मेरठ गए और कम्युनिस्ट नेताओं को नैतिक समर्थन दिया। समाचार-पत्रों ने इस मुकदमें को प्रमुखता से छापा, नेताओं के भाषण और संदेश छापे, इससे साम्यवादी विचारधारा देश के कोने-कोने तक पहुंच सकी।

लेकिन कांग्रेस और साम्यवादियों की यह मित्रता अधिक दिनों तक नहीं चल सकी। सोवियत संघ के इशारे पर या कम से कम उनके प्रभाव में कम्युनिस्ट नेताओं ने कांग्रेस को बुजुआ पार्टी (मध्य वर्गीय) की संज्ञा प्रदान कर दी, जबकि नेहरू और सुभाष को पूंजीवादियों का एजेंट घोषित किया गया। जवाबी कार्यवाही में कांग्रेसी नेताओं ने कम्युनिस्टों को रूस का उपग्रह की संज्ञा दी। इसी झगड़े का परिणाम था कि कम्युनिस्ट पार्टी 1939 के सविनय अवज्ञा आंदोलन से अलग-अलग रही और जनता से दूर होती गई। परिस्थितियों को भांपते हुए सरकार ने अवसर का लाभ उठाया और कम्युनिस्ट पार्टी पर 1934 में प्रतिबंध लगा दिया।

पार्टी का पुनर्गठन 1935 में पी.सी. जोशी ने किया। सातवें कम्युनिस्ट अंतर्राष्ट्रीय ने साम्राज्यवाद एवं फासीवाद के विरुद्ध मोर्चा बनाया। भारत में भी कम्युनिस्ट पार्टी ने कांग्रेस के साथ मिलकर मुख्यधारा की राजनीति में प्रवेश का मन बनाया। संभवतः वे दत्त-ब्रेडली के थीसिस (1926) से प्रेरित थे जिसमें कांग्रेस पार्टी की प्रशंसा की गई थी, विशेषरूप से कांग्रेस के जन आंदोलन के सफल प्रयोग से। कम्युनिस्टों ने 1936-42 के बीच कांग्रेस के विभिन्न कार्यक्रमों में भाग लिया और जिला तथा प्रांतीय स्तर पर कांग्रेस पार्टी के साथ मिलकर कार्य किया। इस समय कांग्रेस के अखिल भारतीय समिति में कम से कम 20 सदस्य कम्युनिस्ट थे।

कांग्रेस समाजवादी पार्टी

जब कम्युनिस्ट पार्टी पर प्रतिबंध लगा और कांग्रेस पार्टी किसानों एवं मज़दूरों के हितों की रक्षा नहीं कर सकी तब कांग्रेस के ही भीतर समाजवादी विचारधारा रखने वाले कुछ नेताओं ने 1934 में बंबई के स्थान पर 'कांग्रेस समाजवादी पार्टी' की स्थापना की। आचार्य नरेन्द्र देव, जयप्रकाश नरायण एवं मीनू मसानी इसके संस्थापक सदस्य थे। नरेन्द्र देव इसके प्रथम अध्यक्ष एवं जयप्रकाश प्रथम सचिव बने। वे कांग्रेस के भीतर ही रह कर 'स्वतंत्रता' एवं 'समाजवाद' के लक्ष्य की प्राप्ति करना चाहते थे। वे मानते थे कि कांग्रेस ही एक अखिल भारतीय पार्टी है और साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष करने में सक्षम है, लेकिन पार्टी पर पूंजीपतियों एवं जमींदारों का वर्चस्व है। वे कांग्रेस पार्टी को समाजवादी विचारधारा से प्रभावित करना चाहते थे और एक ऐसी नीति अपनाना चाहते थे जो किसानों एवं मज़दूरों के हितों की रक्षा कर सके।

समाजवादी कांग्रेसी प्रारंभ में चाहते थे कि पार्टी को अपने नियंत्रण में किया जाए, जब वे सफल नहीं हो पाये तो उन्होंने कांग्रेस में अधिक से अधिक समाजवादी विचारधारा वाले लोगों को भर्ती करने का प्रयास किया। कांग्रेस पार्टी में वामपंथी प्रभाव 1936 से 1939 के बीच स्पष्ट दिखाई देता है, जब 1936 और 1937 में नेहरू तथा 1937 में सुभाष चन्द्र बोस कांग्रेस के अध्यक्ष बने। परन्तु समाजवादी कांग्रेसियों ने पार्टी (कांग्रेस) के प्रति संघर्ष की नीति नहीं अपनाई जैसा कि कम्युनिस्टों ने किया था। इन लोगों ने 1939 के त्रिपुरी कांग्रेस अधिवेशन में गांधी जी का साथ दिया।

समकालिक वाम दलों में कुछ मूलभूत कमियां थीं। उन्होंने शहरी मज़दूरों की ओर अधिक ध्यान केंद्रित किया और ग्रामीण किसानों की ओर कम। कई बार उनका समय कांग्रेसियों के साथ झगड़ने में

व्यर्थ चला गया तो कई बार वह परिस्थितियों को समझ नहीं पाते और मुख्यधारा से कट जाते, जैसे 1930-31 के सविनय अवज्ञा आंदोलन एवं 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन में सम्मिलित न होकर जनता से दूर हो गए। वे गांधी के समझौतावादी सिद्धांत के विरोधी थे। उनके वैचारिक मतभेद, अन्य लोगों से, इतने थे कि वे अधिकांश समय लड़ते-झगड़ते ही दिखाई देते। वे अंग्रेजों से लड़े, पूंजीपतियों से लड़े, ज़मींदारों से लड़े, कांग्रेस से लड़े और आपस में भी खूब लड़े । फिर भी वामपंथियों के योगदान को भुलाया नहीं जा सकता। उनके योगदानों को निम्न बिंदुओं से समझा जा सकता है:—

1. वामपंथ ने कांग्रेस को प्रभावित किया। अखिल भारतीय कांग्रेस समिति के लगभग एक-तिहाई सदस्य कांग्रेसी थे।
2. कांग्रेस के प्रसिद्ध कराची अधिवेशन (1931) का प्रस्ताव वामपंथियों के प्रभाव में पारित प्रस्ताव माना जाता है।
3. कांग्रेस के फैजपुर अधिवेशन (1937) प्रस्ताव, जो भूमि सुधार से संबंधित था, भी वामपंथियों के प्रभाव का प्रस्ताव माना जाता है।
4. कांग्रेस द्वारा गठित राष्ट्रीय योजना समिति (1938) पर वामपक्ष का प्रभाव था।
5. अखिल भारतीय छात्र संघ (ए.आई.एस.एफ.) पर वामपंथ की स्पष्ट छाप थी।
6. वामपक्ष ने ऑल इंडिया स्टेट्स पीपुल्स कांफ्रेस की सहायता की।
7. अखिल भारतीय महिला संघ की स्थापना भी वामपंथियों ने की।

सुभाष चन्द्र बोस और आज़ाद हिंद फौज

सुभाष चन्द्र बोस का जन्म 23 जनवरी, 1897 को कटक (उड़ीसा) में हुआ। वह एक प्रतिभाशाली छात्र थे और उन्होंने आई.सी.एस. की परीक्षा भी उत्तीर्ण की थी लेकिन सरकारी सेवा से त्यागपत्र देकर असहयोग आंदोलन में कूदना उचित समझा। उन्होंने एक समाचारपत्र के लिए सी.आर. दास के साथ भी काम किया लेकिन सरकार के विरुद्ध लिखने के अरोप में उन्हें छः महीने की सजा सुनाई गई। उन्हें 1923 में कलकत्ता का मेयर भी चुना गया लेकिन 25 अक्तूबर 1924 को पुनः गिरफ्तार कर वे माण्डले जेल (बर्मा) भेज दिए गए। स्वास्थ्य खराब होने के कारण उन्हें 1926 में रिहा कर दिया गया।

सुभाष चन्द्र बोस ने कांग्रेस के अनेक आंदोलनों एवं कार्यक्रमों में बढ़-चढ़ कर भाग लिया। मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में गठित वह उस समिति के सदस्य भी रहे, जिसने 1928 में अपनी रिपोर्ट पेश की, जिसे नेहरू रिपोर्ट कहा जाता है। गांधी के विपरीत सुभाष, समाजवादी विचाधारा के प्रवतर्क थे और किसानों एवं मज़दूरों के हितों के पक्षधर। उनका सामाजिक दृष्टिकोण गांधी से कहीं अधिक प्रगतिशील था। वह जनता में जितने लोकप्रिय थे, उतने ही नेताओं के बीच, जिसका साक्ष्य 1939 का त्रिपुरी कांग्रेस अधिवेशन है, जिसमें उन्होंने गांधी के प्रतिनिधि पट्टाभि सीतारमैय्या को परास्त किया था और जिसे गांधी ने अपनी हार मानी थी। द्वितीय विश्व युद्ध के छिड़ जाने (1 सितंबर 1939) के बाद सुभाषचंद्र बोस एवं गांधी के बीच की दूरियां और भी अधिक बढ़ गईं। सुभाष चाहते थे कि अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध एक जनआंदोलन चलाया जाए क्योंकि यही समय उचित है, जबकि गांधी जी का दृष्टिकोण यह था कि इस समय सरकार के विरुद्ध कोई भी कार्रवाई अनैतिक होगी क्योंकि सरकार अभी संकट के दौर से गुज़र रही है। ऐसे ही कई अन्य विषयों पर गांधी एवं सुभाष के बीच मतभेद थे, जिसके फलस्वरूप सुभाष ने 1939 में कांग्रेस से त्यागपत्र दे दिया और उसी वर्ष 'फारवर्ड ब्लॉक' की स्थापना की। उनका स्वभाव जवाहरलाल नेहरू जैसा नहीं था जो गांधी जी से अनेक मुद्दों पर असहमत होते हुए भी गांधी जी के साथ ही रहे। सुभाष ने कांग्रेस भले ही छोड़ दी थी लेकिन देश की आजादी का सपना वह कभी नहीं भूले और सरकार विरोधी कार्रवाही करते रहे। इसी आरोप में उन्हें उनके मकान पर (कलकत्ता में) नज़रबंद कर दिया गया। लेकिन एक बार चमत्कारिक रूप से 16 जनवरी, 1941 को वह 'पठान' के भेष में घर से निकल गए। उन्होंने कलकत्ता से एक रेलगाड़ी पकड़ी और पेशावर गए जहां से स्वयं को एक

पख्तून—'ज़ियाउद्दीन' बताते हुए अफगानिस्तान से काबुल पहुंचे। वह अफगनिस्तान से रूस पहुंचे और इस बार उन्होंने एक इतालवी कुलीन काउंट ओलांडो मज़ोटा के पासपोर्ट का इस्तेमाल किया। मॉस्को से रोम पहुंचे और फिर जर्मनी के शहर ड्रेसडिन नामक स्थान पर 'इंडियन लीग' की स्थापना की।

आई.एन.ए.

दक्षिण-पूर्व एशियाई देशों में भारतीयों का निवास सदियों से रहा है लेकिन द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान उनकी आबादी में और भी अधिक वृद्धि हुई क्योंकि अनेक भारतीयों को जापानियों ने युद्धबंदी बना लिया था। राजबिहारी बोस, जो एक भूतपूर्व क्रांतिकारी थे और जापान में रह रहे थे, ने मार्च 28, 1942 को टोकियो में दक्षिण-पूर्व एशिया में रह रहे भारतीयों की एक सभा बुलाई और 'इंडियन इंडिपेंडेंस लीग' की स्थापना की। इसी प्रकार 1 सितंबर 1942 को कै. मोहन सिंह ने 'इंडियन नेशनल आर्मी' (आजाद हिंद फौज) की स्थापना की और लगभग 16,300 जवानों को भर्ती किया। कै. मोहन सिंह पहले ब्रिटिश भारतीय सेना में थे और उन्होंने सेना को छोड़ दिया था। भर्ती किये गए अधिकांश सिपाही युद्धबंदी थे, जिन्हें जापानियों ने कै. मोहन सिंह के हवाले कर दिया था। 1942 के अंत तक आई.एन.ए. की संख्या बढ़कर लगभग 40 हजार हो गई। आई.एन.ए. का स्वरूप प्रारंभ से ही धर्मनिरपेक्ष था। इसमें हिंदु, मुस्लिम और सिख लगभग सभी पदों और रैंकों में कार्यरत थे। इसकी एक महिला बटालियन भी थी, जिसका नाम रानी लक्ष्मीबाई के नाम पर रखा गया।

लेकिन आई.एन.ए. और जापानियों के बीच आई.एन.ए. की भूमिका को लेकर मतभेद थे। उस समय आई.एन.ए. का नेतृत्व मोहन सिंह और निरंजन सिंह कर रहे थे। दोनों को ही जापानियों ने गिरफ्तार कर लिया क्योंकि जापानी उन्हें अपने साम्राज्यवादी हितों के लिए प्रयुक्त करना चाहते थे। ऐसा नहीं है कि भारतीय इस वास्तविकता से परिचित नहीं थे, लेकिन संभवत: वे इस धारणा में विश्वास रखते थे कि 'शत्रुओं का शत्रु मित्र होता है।'

जापानियों और भारतीयों के बीच जो मनमुटाव था, वह सुभाष चन्द्र बोस के आने से लगभग समाप्त हो गया। सुभाष को जर्मन-जापानी पनडुब्बी से 2 जुलाई, 1943 को सिंगापुर लाया गया। सुभाष से एक भेंट में जापानी प्रधानमंत्री टोजो ने यह स्पष्ट किया कि जापान की भारत में कोई क्षेत्रीय अभिलाषा नहीं है। आश्वासन मिलने के बाद बोस सिंगापुर लौट आए और इंडियन इंडिपेंडेंस लीग के अध्यक्ष बन गए। 21 अक्तूबर 1943 को उन्होंने 'आर्ज़ी हुकूमत आज़ाद हिंद' की स्थापना की और ईश्वर की शपथ ली कि देश की स्वतंत्रता के लिए वह अपने खून की आखिरी बूंद भी बहा देंगे। उन्होंने 'दिल्ली चलो' का प्रसिद्ध नारा दिया और आई.एन.ए. का मुख्यालय रंगून एवं सिंगापुर को बनाया।

सुभाष चन्द्र बोस द्वारा स्थापित आंतरिक सरकार को अनेक देशों ने मान्यता प्रदान की, जिनमें जापान, जर्मनी, बर्मा, कोरिया, आइरलैंड, चीन, इटली, मानचुकुओ एवं फिलीपींस सम्मिलित थे। 8 नवंबर 1943 को जापानियों ने अंडमान एवं निकोबार द्वीप समूह आई.एन.ए. को सौंप दिया। आई.एन.ए. ने अंडमान का नाम 'शहीद द्वीप' और निकोबार का 'स्वराज द्वीप' रखा। 30 दिसंबर 1943 को इस द्वीप समूह पर तिरंगा भी फहराया गया।

4 फरवरी, 1944 को आई.एन.ए. ने कैप्टन शाहनवाज खान के नेतृत्व में, जापानियों की सहायता से, बर्मा के रास्ते भारत पर आक्रमण किया। उन लोगों ने ब्रिटिश भारत के अनेक क्षेत्रों, जैसे—रामू, कोहिमा, पलेल, टिड्डिम आदि पर कब्जा किया और इम्फाल (मणिपुर) की घेराबंदी की, लेकिन उसे जीतने में विफल रहे। जल्द ही आई.एन.ए. को मजबूत अंग्रेजी और सहयोगी सेना से परास्त होना पड़ा। उधर द्वितीय विश्वयुद्ध में जापान की स्थिति लगातार कमजोर होती जा रही थी और खराब मौसम ने भी आई.एन.ए. की समस्यायें बढ़ाईं। बड़ी संख्या में आई.एन.ए. के सिपाही गिरफ्तार किए गए जिनमें कैप्टन शाहनवाज़ खान भी सम्मिलित थे। सुभाष चन्द्र बोस के बारे में पता करने के लिए गठित कै. शाहनवाज़ खान कमेटी (नेहरू के काल में) और जस्टिस खोसला कमेटी (इंदिरा गांधी के काल में) की रिपोर्ट के अनुसार,

उनकी मृत्यु फार्मोसा (ताइवान) में एक हवाई हादसे के बाद हुई, जबकि न्यायमूर्ति मुखर्जी आयोग (वाजपेयी के काल में गठित) के अनुसार उस वर्ष फार्मोसा में किसी हवाई हादसे का कोई साक्ष्य नहीं है। इस प्रकार सुभाष चन्द्र बोस के बारे में अब तक कुछ स्पष्ट नहीं है।

आई.एन.ए. मुकदमा

वर्ष 1945 में दिल्ली के लाल किला में आई.एन.ए. के नायकों का ऐतिहासिक मुकदमा चला। कैप्टन प्रेम कुमार सहगल, कैप्टन शाहनवाज़ खान और कैप्टन गुरबख्श सिंह ढिल्लों के विरुद्ध चलाया गया। यह मुकदमा जल्द ही राष्ट्रीय मुद्दा बन गया। देश की जनता, विशेषकर कांग्रेस के नेताओं ने आई.एन.ए. के नायकों के प्रति सहानुभुति जताई। ब्रिटिश भारत की सेना में भी इन नायकों के प्रति सहानुभूति रखने वालों की कमी न थी।

आई.एन.ए. के नायकों का मुकदमा राष्ट्रवादी वकीलों ने लड़ा, जिसका नेतृत्व भूलाभाई देसाई कर रहे थे और जिसमें जवाहरलाल नेहरू, आसफ अली एवं तेज बहादुर सप्रू जैसे विख्यात वकील भी सम्मिलित थे। समाचारपत्र-पत्रिकाओं ने भी इस खबर को प्रमुखता से नायकों के चित्रों के साथ छापा। उनके भाषणों को विशेष महत्व दिया गया। यह सब इसलिए संभव हो सका क्योंकि मुकदमा खुली अदालत में चल रहा था। तीनों ही महानायक देश की एकता और सांप्रदायिक सौहार्द्र के प्रतीक बन गए, एक ऐसे समय जब देश पूरी तरह सांप्रदायिक हिंसा से ग्रस्त था।

आई.एन.ए. के महत्व को निम्न बिंदुओं से आसानी से समझा जा सकता है :

1. भारतीय अपनी स्वतंत्रता के लिए साम्राज्यवादी शक्ति से लड़ सकते हैं।
2. अंग्रेजों के 'फूट डालो शासन करो' की नीति के बावजूद हिंदू, मुस्लिम एवं सिखों ने मिलकर देश की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष किया।
3. भारतीय महिला भी सेना में भाग लेने और नेतृत्व क्षमता रखती है। कैप्टन लक्ष्मी सहगल ने रानी लक्ष्मी बाई बटालियन की कमान संभाली।
4. आई.एन.ए. ने अंग्रेजों का यह भ्रम तोड़ दिया कि भारतीय सैनिक केवल अपनी जीविका के लिए लड़ते हैं। उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि आवश्यकता पड़ने पर वे अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिए शहीद भी हो सकते हैं।
5. आई.एन.ए. ने 'जन गण मन' और 'जय हिंद' जैसे नारों को लोकप्रिय बनाया। महात्मा गांधी को 'राष्ट्रपिता' (फादर ऑफ दी नेशन) पहली बार सुभाष चन्द्र बोस ने ही कहा (6 जुलाई, 1944) था।

साम्प्रदायिक तत्वः मुस्लिम लीग एवं हिंदू महासभा

1 अक्तूबर, 1906 को शिमला में कुछ मुस्लिम नवाब और जमींदार, गवर्नर जनरल लार्ड मिंटो से मिले और उन्होंने 'मुसलमानों के हितों' विशेषकर राजनैतिक हितों की रक्षा की मांग उठाई। वे इस लक्ष्य से परिचित थे कि 'चुनाव' की व्यवस्था प्रारंभ होने वाली है और बिना विशेष संरक्षण के उनके हितों की रक्षा नहीं हो सकेगी। शिमला गए इस प्रतिनिधि दल ने मुसलमानों की जनसंख्या के अनुपात के आधार पर सीटों के आरक्षण की मांग की।

शिमला से लौटने के बाद कुछ मुस्लिम नेताओं ने मुसलमानों के हितों की रक्षा के लिए एक केंद्रीय मुस्लिम संगठन बनाने पर विचार किया। इस प्रकार 30 दिसंबर 1906 को आगा ख़ान, नवाब सलीम उल्ला एवं वकार-उल-मुल्क जैसे संभ्रांत मुस्लिम नेताओं ने अखिल भारतीय मुस्लिम लीग की स्थापना की। इसका लक्ष्य था—भारत में मुसलमानों के राजनैतिक एवं अन्य हितों की रक्षा करना और साथ ही अन्य संप्रदायों के साथ अच्छे संबंध बनाना एवं ऐसे संबंधों को प्रोत्साहित करना। दूसरी ओर अंग्रेजी सरकार एक ऐसे सहयोगी की तलाश में थी, विशेषकर स्वदेशी आंदोलन के बाद, जिसकी सहायता से

वह राष्ट्रवादी आंदोलन को कमज़ोर कर सकें। सामंती मुसलमान उनके अच्छे सहयोगी हो सकते थे। यह बात बड़ी आसानी से समझी जा सकती है कि क्यों स्थापना के केवल तीन वर्ष के भीतर ही मुस्लिम लीग 'प्रथम निर्वाचक मंडल' को प्राप्त करने में सफल रहा। भारत सचिव मार्ले और वाइसराय मिन्टो निश्चित रूप से सामंती मुसलमानों को पृथक निर्वाचक मंडल का विकल्प देकर प्रसन्न थे क्योंकि यह उनके 'फूट डालो और शासन करो' नीति के अनुकूल थी।

लेकिन कुछ ही वर्ष बाद मुस्लिम लीग का स्वरूप बदल गया, जब इसमें प्रगतिशील, शिक्षित और राष्ट्रवादी मुसलमानों का वर्चस्व स्थापित हुआ। मुहम्मद अली जौहर, शौकत अली (अली बंधु), वज़ीर हसन, तस्द्दुक हुसैन खान शेरवानी, हजरत मोहानी, ज़फर अली खान और फज़ल-उल-हक ऐसे ही मुसलमान थे। उनमें से अनेक समाचारपत्रों के संपादक भी थे। जैसे—मुहम्मद अली जौहर 'कामरेड' (अंग्रेजी) और हमदर्द (उर्दू) के संपादक, ज़फर अली खान 'ज़मींदार' के संपादक थे। सामंती मुसलमानों के विपरीत ये मुसलमान अंग्रेजों के स्वामी भक्त नहीं थे और अपनी दोनों पहचान 'भारतीय' एवं 'मुसलमान' से भलीभांति परिचित थे। सर्व-इस्लामी आंदोलनों से उनका संबंध अंग्रेजी सरकार को पसंद नहीं था। अली बंधुओं एवं फिरंगी महल स्कूल (लखनऊ) के अब्दुल बारी ने 1913 में 'अजुंमन खुद्दाम-ए-काबा' की स्थापना की ताकि मुस्लिम तीर्थ स्थलों की सुरक्षा के लिए कोष जमा किया जा सके। बाल्कन युद्ध (1912-13) के समय डा. मुख्तार अहमद अंसारी एवं ज़फर अली खान एक चिकित्सा दल लेकर तुर्की गए। मुस्लिम लीग के ऐसे नौजवान नेताओं को अंग्रेजी सरकार संदेह की दृष्टि से देखती। अली बंधुओं को इसीलिए 1915 में नजरबंद कर दिया गया और 1919 के अंत तक वे लगभग कैदी का जीवन बिताते रहे (मुहम्मद अली पेपर्स, वोल्यूम-5, प्रेमचन्द अभिलेखागार, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, नई दिल्ली)।

यह जानना दिलचस्प होगा कि मुहम्मद अली के बारे में फैसला लेते समय अंग्रेजी सरकार ने महात्मा गांधी से संपर्क किया था (मुहम्मद अली पेपर्स, वाल्यूम-5, प्रेम चन्द अभिलेखागार, जामिया मिल्लिया इस्लामिया) क्योंकि तब तक अंग्रेजी सरकार गांधी को अपना मित्र ही मानती थी। मुस्लिम लीग के राष्ट्रवादी नेताओं ने ही लीग को कांग्रेस के समीप लाये और लखनऊ समझौता (1916) को संभव बनाया। लेकिन पृथक निर्वाचन मंडल में अलगाववाद के बीज थे। इसके आधार पर चुनाव लड़ने वालों ने धार्मिक नारों और प्रतीकों का इस्तेमाल किया। मोंटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार ने पृथक निर्वाचन मंडल सिखों एवं आंग्ल-भारतीयों को भी प्रदान किया और मतदाताओं की संख्या भी बढ़ाई, जिससे अलगावाद को व्यापक भूमि मिल गई। उधर ब्रिटिश शिक्षा व्यवस्था से शिक्षित बेरोजगारों की संख्या में लगातार वृद्धि हो रही थी। बढ़ती आकांक्षाओं और सीमित अवसरों के कारण स्कूलों, कार्यालयों एवं दुकानों में असंतोष और कड़वाहट बढ़ती जा रही थी (मुस्लिम ऑफ इंडिया, पीटर हार्डी)।

हिंदू महासभा, आर.एस.एस. एवं अन्य 'हिंदुत्व' शक्ति के बढ़ते प्रभाव के कारण अल्पसंख्यकों, विशेषकर मुसलमानों में, असुरक्षा की भावना तेज होती जा रही थी। कांग्रेस पार्टी के भीतर अनेक ऐसे नेता थे (1938 तक) जो हिंदू महासभा के भी सदस्य थे, जिसने परिस्थिति को और भी अधिक जटिल बना दिया। 1924 में लीग के लाहौर अधिवेशन में जिसकी अध्यक्षता जिन्ना ने की, यह मांग उठाई गई कि एक संघ की स्थापना की जाए जिसमें प्रांतों को स्वायत्तता मिले ताकि मुस्लिम बहुल प्रांतों को हिंदू वर्चस्व से बचाया जा सके। लीग ने पृथक निर्वाचन मंडल को जारी रखने की बात भी की। नेहरू समिति रिपोर्ट (1928) ने कांग्रेस और लीग के बीच की खाई को और बढ़ाया विशेषकर तब जब हिंदू महासभा के प्रभाव में कांग्रेस अपने वायदे से मुकर गई। जिन्ना ने 14 सूत्री मांग प्रस्तुत की, जो 1939 तक लीग की राजनीति का आधार रहाँ अपने लंबे-चौड़े दावों के बावजूद मुस्लिम लीग 1937 तक खान बहादुरों नवाबों एवं पश्चिमी शिक्षा प्राप्त मुसलमानों की ही पार्टी बनी रही। इसकी सदस्य संख्या कुछ हज़ार से अधिक नहीं थी।

लेकिन 1937 के बाद मुस्लिम लीग में, विशेषकर उ.प्र. में, बड़ा परिवर्तन दिखाई देता है। 1937 के

चुनाव में लीग और कांग्रेस के बीच समझौता हुआ था, लेकिन कांग्रेस ने सरकार बनाते समय लीग की अनदेखी की और उसे सत्ता में सम्मिलित करने के लिए अपमानजनक शर्तें रखीं, जो आगे चलकर घातक सिद्ध हुआ। लीग को विपक्ष में रहना पड़ा और कांग्रेस के 27 महीने शासन के सारे 'दोषों' को लीग ने सार्वजनिक किया। इनमें कुछ तो दोष या कमियां वास्तविक थे और कुछ अतिश्योक्तिपूर्ण। कांग्रेस द्वारा चलाया गया 'मुस्लिम संपर्क अभियान' कागजी घोड़ा बन कर रह गया। उल्टे इसने विभिन्न मुस्लिम गुटों में एकता स्थापित कर दी। कई बार तो कांग्रेस के अनेक नेताओं का व्यवहार ही संदेहास्पद होता। जैसे उ.प्र. में तो कांग्रेस जमींदारी प्रथा को समाप्त करने के लिए तत्पर रहती लेकिन बंगाल में उसने यह तत्परता नहीं दिखाई क्योंकि उ.प्र. में बड़े भूपति (ताल्लुकेदार) 'अधिकांशतः मुसलमान थे', जबकि बंगाल में अधिकांश जमींदार हिंदू थे। बंगाल के फज़ल-उल-हक भू-सुधार के पक्षधर थे, जबकि वहां कांग्रेस की प्रमुख मांग थी कैदियों को छुड़ाना, जिसके लिए गवर्नर का अनुमोदन आवश्यक था और न मिलने पर कांग्रेस चाहती थी कि फज़ल-उल-हक त्यागपत्र दें। इस प्रकार फज़ल-उल-हक को कांग्रेस ने मुस्लिम लीग की ओर जाने पर मजबूर किया।

मुस्लिम लीग ने कांग्रेस के 27 महीने शासन में उसके विरुद्ध प्रचार-प्रसार करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। 'पीरपुर रिपोर्ट', 'शरीफ़ रिपोर्ट', बिहार दंगों पर मार्च, 1939 और फज़ल-उल-हक रिपोर्ट—'कांग्रेस शासन में मुसलमानों की पीड़ा' (दिसंबर 1939) ने आग में घी का का ही काम किया। इन रिपोर्टों ने कांग्रेस पर गंभीर आरोप लगाए, जैसे कांग्रेस सांप्रदायिक दंगों को रोक पाने मे विफल रही, बकरीद के अवसर पर गौहत्या पर पाबंदी हटाने में नाकाम रही। कांग्रेस पर आरोप लगा कि सार्वजनिक सभाओं में 'वंदेमातरम्' के विवादास्पद छंदों का गायन जारी रहा जिसमें मूर्ति पूजा का वर्णन है। उस पर यह भी आरोप लगाया कि वह 'देवनागरी' को बढ़ावा देकर 'उर्दू' को समाप्त करने के षड्यंत्र में सम्मिलित है। इनमें से कुछ आरोप तो सत्य थे और कुछ को बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत किया गया था, लेकिन दोनों ने ही मुस्लिम लीग को फायदा पहुंचाया। कांग्रेस पार्टी ने यद्यपि इन आरोपों पर कार्यवाही की जैसे—अक्तूबर 1937 में कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने 'वंदेमातरम्' के अंतिम छंदों को निकालने का निर्णय लिया और दिसंबर 1938 में यह घोषणा की कि कोई सदस्य कांग्रेस या हिंदू महासभा में से किसी एक का ही सदस्य हो सकता है। लेकिन यह सुधार देर से किए गए, तब तक मुस्लिम लीग अपनी स्थिति मजबूत कर चुकी थी। कुछ ही महीनों के भीतर केवल उ.प्र. में ही इसने एक लाख नए सदस्य बनाए, जिसमें उनकी सहायता बंगाल के मुस्लिम व्यापारी वर्ग 'इस्फानियों' ने की। मुस्लिम लीग बंगाल में फज़ल-उल-हक को कमजोर करने में सफल रही। पंजाब में सिंकदर हयात की मृत्यु (दिसंबर 1942) से लीग को ही लाभ मिला। मुस्लिम लीग को पुनः जीवित करने में जिन्ना की बड़ी भूमिका रही। वह बंगाल एवं पंजाब के किसानों को यह समझाने में सफल रहे कि पाकिस्तान में वे हिंदू जमींदारों एवं व्यापारियों के प्रकोप से बच सकेंगे। वह छोटे एवं मझोले व्यापारियों को समझाने में भी सफल रहे कि पाकिस्तान में उन्हें उन्नति के अच्छे अवसर मिलेंगे, जबकि भारत में उन्हें हिंदू पूंजीपतियों, विशेषकर मारवाड़ियों, से मुकाबला करना पड़ेगा, जो उन्हें बरबाद कर देंगे। शिक्षित मध्यम वर्ग को यह विश्वास दिलाया गया कि पाकिस्तान में उनका कैरियर, धर्म और प्रतिष्ठा सब सुरक्षित रहेगा। इस प्रकार हिंदू सांप्रदायिकता, विशेषकर मध्यम वर्ग का, अंग्रेजी सरकार की फूट डालो और शासन करो की नीति और कांग्रेस की विफलता (मुसलमानों को अपनी और मिलाने में) ने मुस्लिम लीग के उत्थान में सहायता पहुंचाई।

हिंदू महासभा

हिंदू महासभा की स्थापना 1915 में हरिद्वार में मदन मोहन मालवीय ने की, जो बनारस हिंदू विश्वविद्यालय के संस्थापक भी थे। लेकिन कुछ वर्षों तक पार्टी की गतिविधियां रुकी रहीं, यहां तक कि असहयोग आंदोलन के समय भी। पार्टी को 1922-23 में उस समय पुनः जीवित किया गया जब 'शुद्धि' आंदोलन को पार्टी ने अपना कार्यक्रम बनाया और 'हिंदू रक्षा' के लिए कार्यसेवक जुटाए गए। हिंदू महासभा ने

आर्य समाज और अन्य हिंदू सांप्रदायिक दलों के साथ मिलकर अनेक ऐसे कार्यक्रम चलाए जिसमें सांप्रदायिकता की लहर तेज हुई। इसका राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ से भी प्रत्यक्ष संबंध था, जिसकी स्थापना 1925 में नागपुर में के.बी. हेडगेवार ने की थी। यद्यपि आर.एस.एस. का यह दावा था कि यह एक सांस्कृतिक संस्था है, लेकिन हिंदू महासभा के साथ मिलकर यह हमेशा ही राजनीति में भाग लेती रही, अप्रत्यक्ष रूप से ही सही। कांग्रेस के भी अनेक नेता 'हिंदू महासभा' के सदस्य थे और कई जो सदस्य नहीं भी थे तो उनका 'हिंदू महासभा' के नेताओं के साथ अच्छा और करीबी संबंध था। जैसे गांधी और पुरुषोत्तम दास, मदन मोहन माल्वीय के करीबी थे। स्वराज पार्टी के सदस्य तो हिंदू महासभा के इतने निकट थे कि बनारस में यह पता करना कठिन था कि कौन स्वराज दल का नेता है और कौन हिंदू महासभा का।

1929 के बाद 'हिंदू महासभा' के तेवर और तेज हो गए और 'हिंदू राष्ट्र' का प्रचार-प्रसार आक्रामक तरीके से किया गया। याद रहे 'हिंदू राष्ट्र' की परिकल्पना गांधीजी के 'राम राज' परिकल्पना से बिल्कुल अलग थी। सभा अनेक सांप्रदायिक दंगों में प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से भाग लेती रही और अंग्रेजी सरकार ऐसे संगठनों का प्रयोग राष्ट्रवादी आंदोलन को कमजोर करने में लगी रही, जैसे उसने मुस्लिम सांप्रदायिक संगठनों का इस्तेमाल किया था। हिंदू महासभा स्वयं को राष्ट्रवादी घोषित करती रही लेकिन अधिकांशत: राष्ट्रवादी आंदोलनों जैसे भारत छोड़ो आंदोलन (1942) से अलग-थलग रही। वह तथाकथित 'हिंदू हितों की सुरक्षा' की बात करती रही, एक ऐसे देश में जहां दो-तिहाई से अधिक लोग हिंदू हैं। उनके दावे तो लंबे चौड़े थे, जबकि जनाधार कमजोर था। अंतत: इस पार्टी की छवि कुछ ऐसी बनी कि यह हिंदुओं के हितों के लिए कम और मुसलमानों एवं ईसाईयों के विरुद्ध काम करने वाली पार्टी अधिक बन गई।